भाग-2

धीमे विचार

अतुल गवंडे

पिछले अंक में लेख के पहले भाग में आपने देखा कि दुनियाभर में होने वाले नवाचारों में से कुछ जैसे शल्य क्रिया में निश्चेतक का इस्तेमाल, कितनी तेज़ी से और बड़े स्तर पर फैलते हैं। वहीं संक्रमण मुक्त सर्जरी के विचारों को फैलाने में खासी मशक्कत लगी। आखिर क्या-क्या तरीके थे जो इनके प्रसार के काम आए या राह की मुश्किलें बने? इसी पड़ताल को हम आगे बढ़ा रहे हैं इसके दूसरे भाग में।

व्यवहार परिवर्तन का सबसे आम तरीका है कि लोगों से कहा जाए, "कृपया अमुक काम कीजिए। कृपया नवजात को गर्म रखिए। कृपया अपने हाथ धो लीजिए। कृपया उन सत्ताइस प्रसव क्रियाओं का पालन करें जो आप नहीं कर रहे हैं।" कक्षाओं में, प्रशिक्षण सम्बन्धी वीडियो में और अपने जन जागरूकता अभियानों में हम यही कहते हैं और यह कारगर भी होता है, मगर एक हद तक ही।

जुर्माना या इन्सेंटिव

फिर हमारे पास कानून-और-व्यवस्था का तरीका है - "आपको ऐसा करना होगा।" हम मापदण्ड व नियमन प्रणाली स्थापित करते हैं और असफलता के लिए जुर्माने, निलम्बन और लायसेंस निरस्त करने जैसे डर दिखाते हैं। दण्ड काम कर सकता है। अर्थ-शास्त्रियों ने गणना की है कि लोग जुर्माने को कितना नापसन्द करते हैं। प्रायोगिक खेलों में देखा गया है कि लोग नकारात्मक परिणाम भोगने की बजाय खेल छोड़ देना पसन्द करते हैं। और प्रसव सहायकों को डराकर अनुशासित करने के सन्दर्भ में यही दिक्कत है। वे काफी कठिन परिस्थितियों में ऐसे पदों पर काम कर रहे हैं जिन्हें भरना मुश्किल है। वे छोड़ देंगे।

'आपको ऐसा करना होगा' का ही

एक अपेक्षाकृत नर्मदिल संस्करण है कि जुर्माने की बजाय प्रलोभन (इन्सेंटिव) दिया जाए। उदाहरण के लिए, हरेक स्वस्थ बच्चा जब जीवन का एक सप्ताह पार कर जाए, तो हम प्रसव सहायक को कुछ बोनस दे सकते हैं। परन्तु ज़रा यह सोचिए कि ऐसी योजना को कार्यरूप देना कितना मुश्किल होगा, खासकर घटिया हालातों में। आपको हर मामले की शिनाख्त के लिए एक नफीस प्रक्रिया बनानी होगी अन्यथा लोग इसे ठगते रहेंगे। और एक जटिल सांख्यिकीय गणना करनी होगी ताकि पूर्व-जोखिमों को ध्यान में रखा जा सके। और यह असम्भव सवाल तो है ही कि आप प्रसव में शामिल विभिन्न लोगों के बीच पारितोषिक का बँटवारा कैसे करेंगे। उस सामुदायिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता को कितना मिलेगा जिसने प्रसव-पूर्व देखभाल मुहैया करवाई थी? और उस प्रसव सहायक को क्या मिलेगा जिसने प्रसव अवधि के प्रथम 12 घण्टे सम्भाले थे? और वह जो ड्यूटी पर आई और प्रसव करवाया? जब पेचीदगियाँ पैदा हुईं तो जिस डॉक्टर को बुलाया गया था? और वह फार्मेसिस्ट जिसने बच्चे के लिए ज़रूरी सही एंटीबायोटिक स्टोर में रखे थे?

इसके अलावा, जुर्माना या पारितोषिक से वह तो हासिल ही नहीं होता जो हम सचमुच चाहते हैं: एक ऐसी व्यवस्था जहाँ लोग हर समय अमुक-अमुक करते हैं, चाहे कोई देख रहा हो या नहीं। 'आपको करना होगा' सिर्फ अनुपालन को पुरस्कृत करता है। "अमुक वह चीज़ है जो हम करते हैं" तक पहुँचने का मतलब है कि हम उसे एक परिपाटी बना देते हैं। और यही हम चाहते हैं: माँ से सटाकर बच्चे को गर्म रखने, हाथ धोने, और प्रसव के दौरान सारी जीवनरक्षक क्रियाओं को परिपाटियाँ बनाना।

व्यवस्था की बाधाओं को तोड़कर

नई परिपाटियाँ बनाने के लिए आपको लोगों की वर्तमान परिपाटियों को और बदलाव की बाधाओं को समझना होगा। आपको यह समझना होगा कि क्या है जो उनके रास्ते में बाधा बन रहा है। तो क्यों न ऐसा किया जाए कि इसे समझने के लिए एक-एक स्वास्थ्य कार्यकर्ता के साथ काम किया जाए? बेटर-बर्थ प्रोजेक्ट के तहत हमने सोचा कि क्या होगा यदि हम प्रसव सुधार कार्यकर्ताओं का एक दल नियुक्त करें और ये जाकर प्रसव सहायकों और अस्पताल के मुखियाओं से सम्पर्क करके उन्हें बताएँ कि अनिवार्य कामों की एक सूची का अनुपालन क्यों ज़रूरी है और कैसे किया जा सकता है, यह समझें कि उनकी दिक्कतें व आपत्तियाँ क्या हैं और उनकी मदद करें कि वे चीज़ों को अलग ढंग से कर पाएँ। कहने का मतलब यह कि हम उन्हें परामर्शदाता उपलब्ध करा रहे हैं।

यह प्रयोग अभी चालू ही हो रहा है। प्रोजेक्ट में हम जिन करीब 100

कार्यकर्ताओं को नियुक्त करना चाहते हैं, उनमें से कुछ की ही नियुक्ति हुई है। इन्हें उत्तर प्रदेश के छः क्षेत्रों में प्रायोगिक तौर पर अस्पतालों में भेजा जा रहा है। इसके तहत दो वर्षों में करीब दो लाख प्रसव शामिल होंगे। पक्का नहीं है कि हमारा तरीका सफल होगा मगर कोशिश करने में कोई हर्ज़ नहीं है।

देश-विदेश में जो प्रतिक्रियाएँ सुनी हैं, वे मिली-जुली व दिलचस्प हैं। सबसे सामान्य आपत्ति यह है कि यदि यह विचार कारगर होता है, तो भी इस तरह कार्यस्थल पर एक-एक को मदद देने का तरीका बड़े पैमाने पर लागू नहीं किया जा सकता। मगर सच्चाई यह है कि इसे बड़े पैमाने पर लागू किया जा सकता है। यदि यह हस्तक्षेप हमारी उम्मीद के मुताबिक संख्या में माँओं और बच्चों का जीवन बचाता है - साल भर में लक्षित अस्पतालों में करीब एक हज़ार - तो करना इतना ही होगा कि इसी तरह के प्रसव सुधार कार्यकर्ताओं की नियुक्ति व तैयारी देशभर (शायद दुनियाभर) के अन्य स्थानों के लिए भी की जाए। कई लोगों को यह कोई समाधान नहीं लगता। इसके लिए व्यापक स्तर पर लोगों को तैनात करना, काफी खर्च करना और शायद एक नए व्यवसाय का विकास करना होगा। मगर देखा जाए, तो एंटीसेप्टिक-नुमा समस्याओं के मामले में यही तरीका कारगर रहा है। निश्चेतन विज्ञान की रचना की कल्पना कीजिएः इसका मतलब था कि हर ऑपरेशन के समय डॉक्टरों की संख्या दुगनी करना। हम आगे बढ़े और यही किया। निरक्षरता कम करने के लिए हमारे देश समेत विभिन्न देशों ने स्कूल बनाए, पेशेवर शिक्षक प्रशिक्षित किए और शिक्षा को सब बच्चों के लिए मुफ्त व अनिवार्य बनाया। खेती में सुधार के लिए सरकारों ने कोने-कोने में किसानों से सम्पर्क करने हेतु लाखों कृषि विस्तार अधिकारी भेजे ताकि उन्हें फसल की उपज बढ़ाने के नए तरीके सिखाए जा सकें। ऐसे कार्यक्रम असाधारण रूप से सफल रहे हैं। इनकी मदद से विश्व स्तर पर निरक्षरता कम हुई है - 1970 में जहाँ हर तीन में से एक व्यक्ति निरक्षर था वहीं आज छः में से एक व्यक्ति निरक्षर है। ऐसे ही कार्यक्रम ने हरित क्रान्ति दी है जिसने एक अरब से ज़्यादा लोगों को भुखमरी से बचाया है।

कारगर सतत व्यक्तिगत सम्पर्क

आईफोन, फेसबुक और ट्विटर के ज़माने में हम ऐसे विचारों के प्रचार-प्रसार के आदी हो चले हैं जो हवा के समान फैलते हैं। भूख, बीमारी, गरीबी जैसी दुनिया की बड़ी-बड़ी समस्याओं के सन्दर्भ में हमारी चाहत तो घर्षणरहित 'चाबी घुमाओ' नुमा समाधानों की हो गई है। हम शिक्षक की बजाय शैक्षणिक वीडियो को तरजीह देते हैं, वास्तविक फौज की बजाय ड्रोन विमानों को, संस्थाओं की बजाय प्रलोभनों को तरजीह देते हैं। हो सकता है कि लोग

व संस्थाएँ कालातीत व गड्ड-मड्ड लगें। इंजीनियर्स कहेंगे कि इनकी वजह से अनियंत्रित कारकों का प्रवेश हो जाता है।

मगर टेक्नोलॉजी और प्रलोभन कार्यक्रम पर्याप्त नहीं होते। नए विचारों के सम्प्रेषण और फैलाव का अध्ययन करने के लिए मशहूर एवरेट रॉजर्स कहते हैं कि "विसरण मूलतः एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें लोग एक-दूसरे से बातें करते हुए नवाचार को फैलाते हैं।" संचार माध्यम लोगों को नए विचार से परिचित तो करा सकते हैं, मगर रॉजर्स ने दर्शाया है कि लोग किसी नए विचार को अपनाने का फैसला उन लोगों को देखकर करते हैं जिन्हें वे जानते हैं और भरोसा करते हैं। हर परिवर्तन के लिए मेहनत लगती है और यह मेहनत करने का निर्णय एक सामाजिक प्रक्रिया है।

इस बात को बिक्री करने वाले लोग भलीभाँति जानते हैं। मैंने एक बार एक मेडिकल रिप्रेज़ेंटेटिव से पूछा था कि वह डॉक्टर को नई दवा अपनाने के लिए कैसे राज़ी करता है जबकि डॉक्टर्स काफी ज़िद्दी होते हैं। उसने बताया कि आपका मामला चाहे जितना सशक्त हो, सिर्फ प्रमाणों से काम नहीं चलता। आपको 'सात सम्पर्क का नियम' लागू करना होता है। आप डॉक्टर्स को सात बार निजी तौर पर 'सम्पर्क' कीजिए और वे आपको जानने लगेंगे, और शायद आप पर भरोसा करने लगें। यदि वे आप पर भरोसा करते हैं, तो वे बदलेंगे। इसीलिए वह रिप्रेज़ेंटेटिव अपने हाथों से डॉक्टर की अलमारी को मुफ्त दवा सैम्पल्स से भर देता था। तब वह अलमारी के कोने में झाँकते-झाँकते पूछ सकता था, "तो आपकी बीटिया डेबी का सॉकर का गेम कैसा रहा?" अन्ततः वह इस सवाल पर आ सकता है, "क्या आपने हमारी नई दवा पर यह अध्ययन देखा है? इसे आज़माकर क्यों नहीं देखते?" जैसा कि इस रिप्रेज़ेंटेटिव ने देखा, विरोध से पार पाने और बदलाव को फैलाने में मानवीय आदान-प्रदान मुख्य शक्ति होती है।

जीवन रक्षक घोल – प्रचार की दिक्कतें

1968 में *दी लैंसेट* ने एक ट्रायल के परिणाम प्रकाशित किए थे। इसमें बीसवीं सदी की एक सबसे महत्वपूर्ण मानी जाने वाली चिकित्सा उपलब्धि पर विचार किया गया था। यह कोई नई दवा या टीका या ऑपरेशन नहीं था। यह था शक्कर, नमक और पानी

का घोल जिसे आप अपने किचन में बना सकते हैं। शोधकर्ताओं ने यह घोल ढाका में हैज़ा महामारी के कुछ पीड़ितों को दिया। परिणाम चौंकाने वाले थे।

विब्रियो कॉलेरा

हैज़ा एक उग्र व जानलेवा दस्तनुमा रोग है। यह *विब्रियो कॉलेरा* नामक बैक्टीरिया के कारण होता है। मरीज़ के शरीर में यह बैक्टीरिया सन्दूषित पानी के साथ पहुँचता है। बैक्टीरिया एक विष का स्राव करता है जिसकी वजह से आँतों में तरल का भयानक स्राव शुरू हो जाता है। हमारा शरीर 60 प्रतिशत पानी है और इस पानी को शरीर में से किसी स्पंज की तरह निचोड़ा जाने लगता है। बाहर निकलने वाला तरल दूधिया-सा होता है, चावल धोने पर निकले पानी जैसा। इसके कारण उल्टी और दस्त शुरू हो जाते हैं। बच्चों के शरीर में से एक-तिहाई पानी 24 घण्टों के अन्दर निकल जाता है। इतना पानी निकलना जानलेवा हो सकता है। तरल की जो हानि होती है उसकी पूर्ति के लिए पानी पीना कारगर नहीं होता क्योंकि आँतें उसे सोख नहीं सकतीं। नतीजतन मृत्यु दर 70 प्रतिशत या उससे भी ज़्यादा हो जाती है। उन्नीसवीं सदी के दौरान हैज़ा की महामारियाँ एशिया, अफ्रीका और उत्तरी अमेरिका में लाखों जान ले लेती थीं। इस बीमारी को नीली मौत भी कहते थे क्योंकि भयानक निर्जलन (पानी की कमी) के चलते मरीज़ की चमड़ी का रंग भूरा-नीला हो जाता था।

1906 में इसका एक आंशिक रूप से कारगर इलाज ढूँढ़ लिया गया था: इंट्रावीनस तरल घोल की मदद से मृत्यु दर घटकर 30 प्रतिशत रह गई। रोकथाम सबसे प्रभावी तरीका था। आधुनिक मल-जल तंत्र और जलशोधन ने इस बीमारी को सम्पन्न देशों से विदा कर दिया। फिर भी विश्व स्तर पर हर साल लाखों लोग दस्त सम्बन्धी बीमारियों से मरते रहे। यदि मरीज़ किसी चिकित्सा संस्थान तक पहुँच जाए, तो भी सुइयाँ, प्लास्टिक नलियाँ और इंट्रावीनस तरल का लीटरों घोल बहुत महँगे होते थे और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होते थे। इसके अलावा यह इलाज चिकित्सा कर्मियों पर निर्भर था जो हमेशा दुर्लभ होते थे, खास तौर से महामारी के समय जब हज़ारों मरीज़ों की भीड़ हो।

फिर 1960 के दशक में वैज्ञानिकों ने यह खोजा कि शक्कर की उपस्थिति में तरल के अवशोषण में मदद मिलती है। दो अमेरिकी शोधकर्ता डेविड नलिन

हैज़ा से पीड़ित लोग

जीवन रक्षक घोल

और रिचर्ड कैश एक हैज़ा प्रकोप के समय ढाका में थे। उन्होंने वैज्ञानिक खोज को आज़माने के लिए मरीज़ों को मुँह से पुनर्जलन घोल देने का निर्णय किया जिसमें शकर और नमक, दोनों थे। कई लोगों को शंका थी कि मरीज़ तरल की क्षति की भरपाई करने के लिए ज़रूरी मात्रा में यह घोल पी पाएँगे, जो आम तौर पर प्रतिदिन 10 से 20 लीटर तक पीना पड़ता था। लिहाज़ा, शोधकर्ताओं ने ढाका परीक्षण को 29 मरीज़ों तक सीमित रखा। इन मरीज़ों को इतना घोल पीने में कोई दिक्कत नहीं हुई जिससे उन्हें इंट्रावीनस घोल की ज़रूरत कम पड़ी या बिलकुल भी नहीं पड़ी। इनमें से किसी की मृत्यु नहीं हुई।

तीन साल बाद 1971 में दिलीप महलनबीस नाम के एक चिकित्सक पश्चिम बंगाल में बांग्लादेश के स्वतंत्रता युद्ध के साढ़े तीन लाख शरणार्थियों के एक शिविर में चिकित्सा सहायता का मार्गदर्शन कर रहे थे। इसी समय हैज़ा फूट पड़ा। इंट्रावीनस घोल का भण्डार चुक गया। महलनबीस ने अपनी टीम को ढाका घोल आज़माने का आदेश दिया। मात्र 3.6 प्रतिशत मरीज़ों की मृत्यु हुई, जबकि आम तौर पर 30 प्रतिशत मरीज़ मारे जाते थे। दरअसल, यह घोल इंट्रावीनस तरल से बेहतर था। यदि हैज़ा के मरीज़ सजग हों, घोल पी सकें और घोल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराया जा सके, तो लगभग हर मामले में जान बचाई जा सकती है।

जब इन परिणामों का प्रचार-प्रसार हुआ तो उम्मीद की जानी चाहिए थी कि लोग इस तकनीक के दीवाने हो जाएँगे। मुँह से पिलाया जाने वाला पुनर्जलन घोल तो अमृत समान थाः एक भयानक, तात्कालिक समस्या के लिए जादुई इलाज। मगर इसका फैलाव नहीं हुआ।

इसे समझने के लिए आपको कल्पना करनी होगी कि आपका एक बच्चा है जो उल्टियाँ कर रहा है, दस्त से बेहाल है, जैसा कि आपने पहले कभी नहीं देखा था। लगता है कुछ भी पिलाएँगे तो और उल्टी होगी। उल्टी व दस्त का पीछा करना एक यातना भी लगता है और फालतू भी। अधिकांश लोगों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया होती है कि बच्चे को कुछ न खिलाएँ। और यह मानने का भी तो कोई कारण नहीं कि शक्कर और नमक का यह खास मिश्रण साधारण पानी या किसी भी अन्य चीज़ से भिन्न होगा। और वाकई यह खास होता है। नमक की सान्द्रता में एकाध चम्मच की चूक हो जाए, तो इलेक्ट्रोलाइट असन्तुलन खतरनाक हो सकता है। बच्ची को अच्छा लगने लगे उसके बाद भी इसे पीते रहना होता है, जब तक कि दस्त पूरी तरह रुक न जाएँ। हो सकता है इसमें पाँच दिन लगें। नर्सों को ही प्रायः ये बातें ठीक से समझ नहीं आईं, तो गाँववाले कैसे बेहतर करते?

इस ज़बर्दस्त खोज के एक दशक बाद तक यह विचार आगे नहीं बढ़ा। ज़्यादा कुछ बदला नहीं था। दस्त सम्बन्धी रोग पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों के सबसे जानलेवा रोग बने हुए थे।

व्यक्ति-दर-व्यक्ति मुलाकात

अलबत्ता, 1980 के दशक में एक बांग्लादेशी गैर-मुनाफा संगठन बीआरएसी ने मौखिक पुनर्जलन उपचार (मुँह से पिलाए जाने वाले पुनर्जलन घोल पर आधारित उपचार) को राष्ट्रव्यापी स्वीकृति दिलवाने की ठानी। इस अभियान के लिए अधिकांशतः निरक्षर आबादी तक पहुँचना ज़रूरी था। इसके पहले जो सरकारी अभियान चला था - परिवार नियोजन सिखाने के लिए - वह बहुत अलोकप्रिय रहा था। अभियान के ज़रिए जो सन्देश दिए जाने थे, वे पेचीदा थे।

बहरहाल, अभियान काफी सफल रहा। इस अभियान की कहानी बांग्लादेश में प्रकाशित एक सुन्दर किताब 'ए सिंपल सॉल्यूशन' में बताई गई है। संगठन ने संचार माध्यमों के ज़रिए अभियान नहीं छेड़ा। मात्र 20 प्रतिशत आबादी के पास ही तो रेडियो थे।

दिलीप महलनबीस

संगठन ने समस्या पर आक्रमण जिस तरीके से किया उसे अक्सर अव्यावहारिक और अकार्यक्षम बताकर खारिज कर दिया जाता है - घर-घर जाकर, व्यक्ति-दर-व्यक्ति मुलाकात करना और बस बातचीत करना।

अभियान एक पायलट प्रोजेक्ट के रूप में शुरू हुआ था जिसके तहत 600 गाँवों में लगभग 60 हज़ार महिलाओं से बातचीत करना तय किया गया था। व्यावहारिक दिक्कतें डराने वाली थीं। मसलन, पढ़ाने का काम कौन करेगा? ये कार्यकर्ता यात्रा कैसे करेंगे? उनकी सुरक्षा कैसे सुनिश्चित की जाएगी? बीआरएसी के नेतृत्व ने यथासम्भव बढ़िया योजना बनाई और फिर रास्ते में फेरबदल करते गए। उन्होंने चौदह युवा महिलाओं, एक रसोइए और एक पुरुष निरीक्षक के समूह गठित किए। सोच यह थी कि यात्रा के दौरान निरीक्षक उन्हें अन्य लोगों से सुरक्षा प्रदान करेगा जबकि महिलाओं की संख्या उन्हें निरीक्षक से सुरक्षा प्रदान करेगी। वे पैदल यात्रा करते, हर गाँव के निकट तम्बू गाड़ते, फिर घर-घर जाते और तब तक वहाँ रुकते जब तक कि हर झोंपड़ी की महिला से बात न कर लें। वे सुबह से रात तक सप्ताह में छः दिन काम करते। रात को खाने के बाद वे बैठक करते कि उस दिन क्या ठीक-ठाक रहा और क्या ठीक नहीं रहा और बेहतर करने के लिए विचारों का आदान-प्रदान करते। नेता भी समय-समय

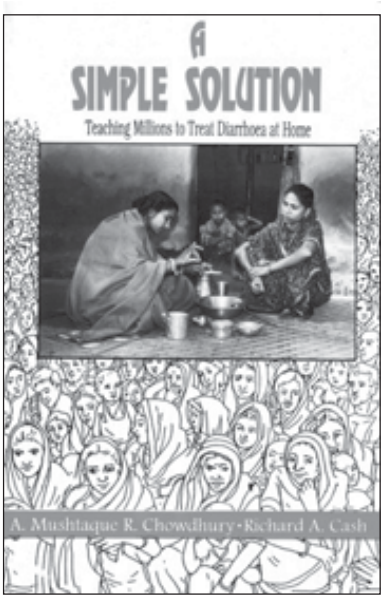

पर उन्हें सम्बोधित करते थे।

मुँह ज़ुबानी सन्देश

कार्यकर्ता अर्ध-साक्षर थे, मगर उन्होंने अपनी बात के सार को सात आसानी से याद हो जाने वाले सन्देशों में बुना था। मसलन, गम्भीर दस्त निर्जलन के कारण मौत का कारण बनता है; निर्जलन के लक्षणों में जीभ का सूखना, आँखों का धँसना, प्यास लगना, घोर कमज़ोरी, और पेशाब कम होना शामिल हैं; निर्जलन के इलाज का तरीका है कि दस्त के साथ शरीर से निकल गए पानी व लवणों की क्षतिपूर्ति करना; और मुँह से पिलाने का पुनर्जलन घोल ऐसा करने का सबसे कारगर तरीका है। बीआरएसी

के वैज्ञानिकों ने यह निर्धारित किया कि कार्यकर्ता घोल बनाने की विधि कैसे सिखाएँगे। गाँववासियों के पास मापन के सटीक उपकरण तो थे नहीं - चम्मच स्थानीय स्तर पर बनाए जाते थे और इनका आकार गैर-मानक होता था। नेतृत्व ने विचार किया कि माप के लिए ऐसे चम्मच हो सकते हैं जिनके हत्थे पर घोल बनाने की विधि लिखी हो। मगर ये महँगे होंगे; अधिकांश लोग विधि पढ़ नहीं सकते; और खो जाने पर चम्मच की क्षतिपूर्ति कैसे होगी? अन्ततः टीम ने उँगलियों से नापने का विचार खोज लियाः मुट्ठी भर शक्कर और तीन उँगलियों से बनी चुटकी भर नमक को आधा सेर पानी में घोला जाए। परीक्षणों से पता चला कि महिलाएँ यह घोल काफी सही बना लेती हैं।

शुरुआत में कार्यकर्ता प्रतिदिन 20 माँओं को सिखाती थीं। मगर गाँव जाने वाले मॉनीटर्स ने पाया कि इतने बड़े पैमाने पर करने से शिक्षण की गुणवत्ता का नुकसान हो रहा है। लिहाज़ा, कार्यकर्ताओं को प्रतिदिन 10 परिवारों तक सीमित रहने को कहा गया। इसके बाद कार्यकर्ताओं को भुगतान के लिए नई वेतन संरचना इस आधार पर निर्धारित की गई कि जब मॉनीटर गाँव पहुँचे तो माँओं को कितने सन्देश याद रहे हैं।

शिक्षण की गुणवत्ता काफी बेहतर हो गई। मैदानी कार्यकर्ताओं ने जल्दी ही यह समझ लिया कि घोल बनाकर दिखाने से बेहतर होता है कि माँएँ स्वयं वह घोल बनाकर देखें। कार्यकर्ता गाँव पहुँचकर दस्त के मामले खोजने लगे थे ताकि उनका इलाज करके यह दिखा सकें कि यह उपचार कितना कारगर व सुरक्षित है। वैज्ञानिकों ने उन प्रश्नों पर गौर किया जो उठते रहते थे। जैसे, क्या साफ पानी ज़रूरी है? (उन्होंने पाया कि हालाँकि उबला हुआ पानी बेहतर है मगर कुछ न देने से तो बेहतर है कि सन्दूषित पानी दे दिया जाए।)

शुरुआती संकेत आशाजनक थे। ऐसा लग रहा था कि माँएँ मुख्य सन्देशों को याद रख पाती थीं। उनके द्वारा बनाए गए शक्कर के घोल के विश्लेषण से पता चला कि लगभग तीन-चौथाई माँएँ ठीक से घोल बना पाती थीं। एक हज़ार में से मात्र चार के घोल में नमक की असुरक्षित मात्रा पाई गई। अतः बीआरएसी और बांग्लादेश सरकार ने इस कार्यक्रम को राष्ट्र स्तर पर उठाया। उन्होंने हर क्षेत्र में हज़ारों कार्यकर्ता नियुक्त करके उन्हें प्रशिक्षित किया। ज़ाहिर है, यह प्रयास एकदम उत्कृष्ट नहीं था। मगर 75000 से ज़्यादा गाँवों में घर-घर जाकर उन्होंने करीब सवा करोड़ परिवारों को समझाया कि अपने बच्चों की जान कैसे बचाएँ।

लगता तो था कि कार्यक्रम सफल रहा है। मुँह से पिलाए जाने वाले पुनर्जलन घोल का उपयोग खूब बढ़ गया। यह जानकारी खुद-ब-खुद फैलने लगी। कार्यक्रम ने परिपाटियों को बदल

दिया था।

जनहित विज्ञापनों द्वारा

एक प्रशिक्षक द्वारा अपनी देखरेख व मार्गदर्शन में गाँववासियों को अपने हाथों से घोल बनाने को तैयार करना और उनके ही शब्दों में सन्देश कहलवाना किसी भी जनहित विज्ञापन या शैक्षणिक वीडियो से ज़्यादा प्रभावी साबित हुआ। आगे चलकर इन बदलावों को टेलीविज़न व रेडियो की मदद से जारी रखा जा सका। और माँग बढ़ने पर मौखिक पुनर्जलन लवण पैकेट्स का पुख्ता बाज़ार विकसित हुआ। तीन दशक बाद किए गए राष्ट्रीय सर्वेक्षणों से पता चला कि गम्भीर दस्त से ग्रस्त 90 प्रतिशत बच्चों को यह घोल पिलाया जाता है। 1980 और 2005 के दरम्यान दस्त से होने वाली बच्चों की मृत्यु-दर में 80 प्रतिशत से ज़्यादा की कमी आई।

जब अन्य देशों ने बांग्लादेश का तरीका अपनाया तो विश्व स्तर पर दस्त सम्बन्धी मौतें 50 लाख प्रति वर्ष से घटकर 20 लाख प्रति वर्ष रह गईं, जबकि पिछले तीन दशकों में विश्व की जनसंख्या में 50 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

बहरहाल, विकासशील देशों में मात्र एक-तिहाई बच्चों को मौखिक पुनर्जलन चिकित्सा प्राप्त हो पाती है। कुछ देशों ने इस कार्यक्रम को अधमने ढंग से लागू किया। जैसा कि गेट्स फाउंडेशन और वॉशिंग्टन विश्वविद्यालय ने दर्ज़ किया है, ये देश पूरी तरह नाकाम रहे हैं। लोगों की आपसी बातचीत आज भी वह तरीका है जिससे दुनिया के मानक बदलते हैं।

अन्ततः उन्नीसवीं सदी के अन्त में सर्जन्स ने अपने एंटीसेप्टिक मापदण्ड बदले। मगर जैसा कि नए विचारों के साथ अक्सर होता है, किसी ने सोचा भी नहीं था कि इस प्रयास के लिए कितने गहरे बदलावों की ज़रूरत थी। अपने रक्त-रंजित, अंगों के टुकड़े चिपके हुए काले कोट वाले सर्जन्स खुद को ऐसे योद्धा मानते थे जो अपने लगभग खाली हाथों से खूनी युद्ध लड़ते हैं। अलबत्ता, कुछ जर्मन सर्जन्स को यह विचार भा गया कि सर्जन्स वैज्ञानिक हैं। उन्होंने अपने काले कोट फेंककर प्रयोगशाला के झक सफेद कोट अपनाए, अपने ऑपरेशन कक्ष को नए सिरे से ढाला ताकि वहाँ किसी बैक्टीरिया-विज्ञान की प्रयोगशाला के स्तर का निर्जीवीकृत वातावरण पैदा किया जा सके, और रफ्तार की बजाय शरीर रचना विज्ञान की सटीकता को तरजीह दी।

पता यह चला कि सर्जन्स को जो प्रमुख सन्देश दिया जाना था वह यह नहीं था कि कीटाणुओं को कैसे रोकें, बल्कि यह था कि वे एक प्रयोगशाला वैज्ञानिक के रूप में कैसे सोचें। अमेरिका व अन्य जगहों के जो चिकित्सक जर्मनी में वहाँ के प्रतिष्ठित सर्जन्स के साथ अध्ययन करने को गए वे उनकी सोच और मापदण्डों के कायल होकर लौटे।

ऑपरेशन के दौरान सर्जन्स का पहनावा

लौटकर वे न सिर्फ (कीटाणुओं को मारने के) एंटीसेप्टिक तौर-तरीकों के उपदेशक बने बल्कि एसेप्टिक तौर-तरीकों (कीटाणुओं की रोकथाम) के कहीं ज़्यादा श्रमसाध्य मापदण्डों के समर्थक बने। जैसे निर्जीवीकृत दस्ताने, गाउन, टोपी और नकाब पहनना। अपने छात्रों और सहकर्मियों को बदलते हुए उन्होंने अन्ततः इन विचारों को पूरी दुनिया में फैला दिया।

तौर-तरीकों में बदलाव

प्रसव के मामले में हमने अभी स्वीकार करना शुरू ही किया है कि महत्वपूर्ण तौर-तरीके अपने-आप नहीं फैलने वाले। मात्र 'जागरूकता' से कुछ नहीं होगा। हमें अपने मार्केटिंग दल और सात आसानी से याद होने वाले सन्देशों की ज़रूरत है। दुनिया में कई जगहों पर व्यक्ति-से-व्यक्ति प्रयासों के ज़रिए परिपाटियाँ बदलने का काम चल रहा है।

मैंने हाल ही में भारत में बेटर-बर्थ के कार्यकर्ताओं से पूछा था कि क्या उन्होंने किसी प्रसव सहायक को अपने तौर-तरीके बदलते देखा है। उन्होंने कहा कि हाँ, मगर इसमें थोड़ा समय लगता है। उन्होंने पहले प्रसव सहायकों और अस्पताल के मुखियाओं को प्रसव के दौरान अनुपालन के तौर-तरीकों की सूची का प्रशिक्षण दिया। फिर वे मौके पर जाते हैं जब प्रसव सहायक इन बातों को लागू करने की कोशिश करते हैं।

गोल-मटोल चेहरे वाली चौबीस वर्षीय सिस्टर सीमा यादव एक प्रशिक्षु थी। उसे नर्सिंग स्कूल से निकले 3 साल हुए हैं। उसकी पहली नियुक्ति एक तीस-वर्षीय नर्स का अवलोकन करने की थी जो कहीं ज़्यादा अनुभवी थी। नर्स जब एक महिला को प्रसव और शिशु-जन्म में मदद कर रही थी तो उसने देखा कि प्रशिक्षण का कितना कम हिस्सा आत्मसात किया गया था। कमरे को संक्रमण-मुक्त नहीं किया गया था, पिछले शिशु-जन्म का खून वहीं एक बाल्टी में पड़ा था। जब महिला आई तो मरोड़ें बढ़ रही थीं और वह कराह रही थी। तब नर्स ने उसके महत्वपूर्ण लक्षणों (vital signs) की जाँच नहीं की। उसने अपने हाथ नहीं धोए। उसने आपातकालीन साज़ो-सामान की कोई तैयारी नहीं की थी। प्रसव के बाद उसने शिशु का तापमान जाँचा मगर हाथ से, थर्मामीटर से नहीं। शिशु को महिला से सटाकर गर्म रखने की बजाय उसने

बच्चा रिश्तेदारों को सौंप दिया।

जब सिस्टर सीमा ने उसे प्रशिक्षण और वास्तविक काम के बीच अन्तर के बारे में बताया तो नर्स घबरा गई। उसने विभिन्न चूकों के लिए कई कारण गिनाए - वक्त नहीं था, कई प्रसव करवाने पड़ते हैं, थर्मामीटर पास में होता ही नहीं, सफाईकर्मी कभी अपना काम नहीं करते। सिस्टर सीमा खुशनुमा है, उत्साही है और तेज़ी से बोलती है। वह नर्स को लेकर सफाईकर्मी के पास गई और उसे समझाया कि दो प्रसव के बीच कमरे की सफाई क्यों ज़रूरी है। वे प्रभारी चिकित्सा अधिकारी के पास गईं और उनसे एक थर्मामीटर मुहैया कराने को कहा। सिस्टर सीमा के दूसरे व तीसरे दौरे के समय विसंक्रमण कहीं बेहतर था। थर्मामीटर अलमारी में रखा मिला। मगर नर्स ने अपना अधिकांश ढर्रा नहीं बदला था।

चौथे-पाँचवे दौरे तक उनकी बातचीत का विषय परिवर्तन हो चुका था। वे साथ में चाय पीती थीं और बातें करती थीं कि चाहे आप दस्ताने पहनो मगर हाथ धोना क्यों ज़रूरी है (क्योंकि दस्तानों में छेद हो सकते हैं और हमारी आदत होती है कि दस्ताने पहने बगैर उपकरणों को छूते रहते हैं) और क्यों ब्लड प्रेशर नापने का महत्व है (क्योंकि उच्च रक्तचाप एक्लेम्पसिया का लक्षण है, जिसका इलाज न किया जाए तो जच्चा की जान जा सकती है)। उन्होंने एक-दूसरे को भी थोड़ा जाना। पता चला कि दोनों का एक-

एक बच्चा है - सिस्टर सीमा को चार साल का लड़का है और नर्स की 8 साल की लड़की है। नर्स राजधानी में रहती है जहाँ से आने में बस में दो घण्टे लगते हैं। वह तलाकशुदा है और अपनी माँ के साथ रहती है और आने-जाने में जूझती है। उसे इस बात का मलाल है कि शहर के किसी अस्पताल में नियुक्ति नहीं मिली। वह कई-कई दिनों तक बगैर छुट्टी लिए काम करती है और फुरसत मिलने पर वहीं एक खाट पर सो जाती है। सिस्टर सीमा ने हमदर्दी दिखाई और अपने परिवार व अपनी उम्मीदों की बात की। कुछ समय में नर्स को समझ में आ गया कि सिस्टर सीमा वहाँ सिर्फ मदद करने और उनके अनुभव से कुछ सीखने को आई है। इसके बाद उन्होंने एक-दूसरे को मोबाइल फोन नम्बर दे दिए और मुलाकातों के बीच में भी बातें किया करती थीं। जब सिस्टर सीमा के पास किसी सवाल का जवाब नहीं होता, तो वह कहीं से पता करती थी।

उसने बताया कि जल्दी ही नर्स में बदलाव आया। कई दौरों के बाद वह तापमान और ब्लड प्रेशर ठीक से लेने

लगी। हाथ धोने लगी और ज़रूरी दवाइयाँ देने लगी। सिस्टर सीमा ने यह सब अपनी आँखों से देखा।

इसके बाद उसे किसी अन्य पायलट स्थल पर जाना पड़ा। हालाँकि, प्रोजेक्ट माँओं और नवजात शिशुओं की स्थिति पर निगरानी रखे हुए है मगर काफी संख्या हो जाने के बाद ही यह पता चल सकेगा कि क्या कुछ फर्क पड़ा है। तो मैंने नर्स का फोन नम्बर ले लिया और एक दुभाषिए की मदद से उसे फोन किया।

यह सिस्टर सीमा के दौरे खत्म हो जाने के चार महीने बाद की बात है। मैंने पूछा कि क्या उसने कुछ परिवर्तन किए हैं। उसने कहा, "बहुत सारे।"

मैंने पूछा, "सबसे मुश्किल कौन-सा था?"

उसने बताया, "हाथ धोना। मुझे कई बार हाथ धोना पड़ता है।"

"और कौन-सा सबसे आसान था?"

"शारीरिक लक्षणों को ठीक से जाँचना।" उसने बताया कि "पहले हम यह काम बेतरतीबी से करते थे और बाद में हर चीज़ व्यवस्थित हो गई।"

उसने बताया कि आखिर उसे असर दिखने लगा है। प्रसव के बाद रक्तस्राव कम हो गया है। वह दिक्कत को जल्दी पहचानने लगी है। उसने एक बच्ची को बचा लिया जिसे साँस नहीं आ रही थी। उसने एक माँ में एक्लेम्पसिया का निदान करके उपचार किया। ये कहानी सुनाते हुए उसकी आवाज़ में गर्व साफ झलक रहा था।

उसने बताया कि कई परिवर्तनों के लिए उसे अभ्यास करना पड़ा था। जैसे उसे यह सीखना पड़ा था कि कैसे सारी ज़रूरी चीज़ों - ब्लड प्रेशर का पट्टा, थर्मामीटर, साबुन, साफ दस्ताने, शिशु के साँस लेने के लिए नकाब, दवाइयाँ वगैरह - को सजाकर रखे ताकि ज़रूरत पड़ने पर मिल जाएँ; कि कैसे इन चीज़ों के उपयोग को अपने दैनिक काम में शामिल करे; कि कैसे माँ और उसके रिश्तेदारों को यकीन दिलाए कि बच्चे के लिए सबसे अच्छा यह होता है कि उसे माँ से सटाकर ही सुलाया जाए। सिस्टर सीमा ने उसे इस सब में कदम-दर-कदम मदद की। "उसने मुझे दिखाया कि चीज़ों को व्यावहारिक तौर पर कैसे करें।" मैंने पूछा, "आपने उसकी बातें सुनी क्यों? उसके पास तो आपके मुकाबले कोई अनुभव नहीं था।"

उसने कबूल किया कि शुरू में वह नहीं सुनती थी। "पहले दिन जब वह आई थी, तो मुझे लगा कि मेरा काम का बोझ बढ़ रहा है।" अलबत्ता दूसरी बार से नर्स को सिस्टर सीमा का आना अच्छा लगने लगा। वह उसका इन्तज़ार करने लगी।

मैंने पूछा, "क्यों?"

नर्स बस इतना कह पाई, "क्योंकि वह अच्छी थी।"

"वह अच्छी थी?"

"वह मुस्कराती रहती थी।"

"बस इतना ही?"

"उससे बातें करना ऐसा नहीं लगता कि कोई आपकी गलतियाँ ढूँढ़ रहा है। ऐसा लगता था कि दोस्त से बात कर रही हूँ।"

मेरे ख्याल में जवाब यही था। उसके बाद से नर्स ने यह समझाने का अपना तरीका विकसित कर लिया है कि नवजात को त्वचा-से-त्वचा सम्पर्क द्वारा गर्म कैसे रखें। वह बताती है कि अब वह परिवारों को समझाती है, "बच्चादानी के अन्दर बच्चा खूब गर्म रहता है। तो जब बच्चा बाहर आता है तो उसे गर्म रखना चाहिए। माँ की त्वचा यही करती है।"

मुझे यह समझ नहीं आ रहा था कि क्या वह मुझे वही बता रही है जो मैं सुनना चाहता हूँ। मगर जब मैंने यह सुना कि वह अपनी सीखी हुई बातों को अपने शब्दों में किस तरह कहती है, तो मैं समझ गया कि विचार फैल गए हैं। "क्या परिवार वाले सुनते हैं?"

उसने बताया, "कभी-कभी नहीं सुनते। अक्सर सुनते हैं।"

अतुल गवंडेः सर्जन, लेखक और लोक स्वास्थ्य में शोध करते हैं। अमेरिका के बॉस्टन शहर में ब्रिघम एण्ड विमेन्स हॉस्पिटल में सामान्य और अन्तःस्त्रावी सर्जरी का काम करते हैं। हार्वर्ड स्कूल ऑफ पब्लिक हैल्थ और हार्वर्ड मेडिकल स्कूल में प्रोफेसर भी हैं। वे एक गैर-सरकारी, लाभ-निरपेक्ष संस्था के ज़रिए दुनियाभर में ऐसे सिस्टम और तकनीकों को क्रियान्वित करने की कोशिश में लगे हैं जिनसे सर्जरी के कारण मौत को कम किया जा सके। 1998 से 'न्यू यॉर्कर' पत्रिका के लिए स्वास्थ्य और चिकित्सा पर लिखते आए हैं और तीन किताबों के लेखक भी हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवादः सुशील जोशीः एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

यह लेख 29 जुलाई, 2013 के 'न्यू यॉर्कर' पत्रिका में लेखक के ऐनल्स ऑफ मेडिसिन कॉलम से साभार।